यथार्थ और कल्पना

श्री उदयशंकर भट्ट

प्रकाशक:—
गौतम बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली

प्रकाशक—
गौतम बुक डिपो,
नई सड़क, दिल्ली

मूल्य : ढाई रुपया
प्रथम बार

मुद्रक—
श्यामकुमार गर्ग,
हिंदी प्रिंटिंग प्रेस,
शिवाश्रम, क्वीन्स रोड, दिल्ली।

लेखक की अन्य काव्य-कृतियाँ

तक्षशिला

राका

विसर्जन

मानसी

युग-दीप

अमृत और विष

कवि-जीवन के वर्षों की तीस-बत्तीस सीढ़ियाँ पार करते हुए हिन्दी कविता के मैंने कई युग देखे हैं। जहाँ उनमें भाषा को बनावट देखी है, वस्तु-विन्यास की शैली में अजस्र परिवर्तन देखे हैं वहीं मैंने भावों के उतार-चढ़ाव के साथ जीवन की नव नवोन्मेषिनी भाव-धाराओं का सूक्ष्म प्रवाह, हृदय की उत्तरंग मस्ती, प्रेम की अदम्य प्रवाहिनी तथा छायावादी अज्ञेय रूप-राशि के प्रोज्ज्वल स्वप्नों का आन्तर-दर्शन भी किया है। और उसके बाद प्रगतिवाद, यथार्थवाद के इस युग में वाह्य परिधान से लापरवाह, रूप-सौन्दर्य की अवहेलना करके वैसाखी के सहारे चलती भिखारिन की तरह अंतरवाह्य दोनों में उन्मुख यथार्थ दर्शनाभिलाषिणी पेट की भूख का गीत गाती हुई कविता का रूप-दर्शन भी किया है।

आज कविता का वही रूप है जिसमें छंदों का बन्धन टूटने के कारण कविता-नर्तकी स्कूल की अध्यापिका को तरह ऊँची एड़ी के जूते पहनकर ऊँची-नीची सड़क पर खट-खट करती चल रही है। आज उसकी माँग में न तो सिन्दूर है, न माथे पर झूमर; न गले में मुक्ताहार है न हाथों में कंकण; न पैरों में पाजेब है न रुनझुन करके हृदय को बेसुध कर देनेवाली पायल; कदाचित् इन्हीं सब बन्धनों से मुक्त होने के कारण वह आज कहीं सलवार पहनकर 'लोंग जम्प' करती है, कहीं 'हाई जम्प'; कहीं तेज़ साइकिल या मोटर साइकिल पर दौड़ती है और कहीं वह जीवन के अपरिहार्य व्यवधान में वस्त्राभूषण-हीन, फटे चीथड़ों से लिपटी खुले आकाश में सर्दी से सिमटी नारी की तरह पीड़ा से कभी-कभी कराह उठती है। और कदाचित् इसीलिये असूर्यंपश्या—वह आज इतनी व्यावहारिक भी हो गई है कि जिन्दगी के हर मोड़ पर, संघर्ष के हर चौराहे पर, तेज़ दौड़नेवाली मोटर के पहिये की हर अचिन्हित रेखा में उसके दर्शन हो जाते हैं। वह बोझ से लदी उपलों को सिर पर उठाये और बगल में मैले-कुचैले, अधनंगे, मरियल, नाक बहते बच्चे को दबोचे चली आती नारी की तरह मनुष्य के जीवन की हर सड़क पर आपको

मिल सकती है। आज की कविता का यही रूप है। वह चाहती है कि अभाव के इस युग में रेल की लाइन के पास जलकर छूँछे पत्थर बने हुये ढेर में कोयले बीनती और छीना-झपटी द्वारा गाली-गलौज़ करके अपनी डलिया भरती हुई दिखाई दे। वह चाहती है कि वह आपको, भूख से तड़पकर ठीक तरह उपचार न होने के कारण निमोनिया मे मृत अपने बच्चे को स्वयं यमुना में प्रवाह करके गुमसुम फटी हुई आँखों में अशान्त महासागर की संपूर्ण जल-राशि भरे हुये, डगमग पैर किन्तु दृढ, क्रोध के पर्वतों का भार उठाये नारी के रूप में भी अपने को दिखा सके। उसने पहली वेश-भूषा को छोड़ दिया है, आज उसमें उस रात के पिये हुये मद्य के खुमार की तिक्तता भर रह गई है, नशा नहीं हैं; या वह उस नगर-वधू के समान हो गई है जिसकी हीन-प्रभ आँखों में पुरानी बहार के दिन कभी कभी झाँक जाते हैं और अटारी के एक कोने में बैठकर हुक्के के कश के हर धुएँ में स्मृति-चित्रों का दर्शन भी उसे निरंतर होता रहता है।

कविता ही नहीं आज साहित्य का प्रत्येक अंग मनुष्य के श्वास-प्रश्वास की तरह व्यावहारिकता के आवरण से उद्बुद्ध घुटन का भाग बन गया है। वह मनुष्य की तरह बेधड़क होकर सर्वत्र विचरण करके नित्य नई समस्याओं का समाधान ढूँढने लगा है। और नगर की गलियों सड़कों के नाम की तरह उसने नये वादों का नामकरण भी कर लिया है। और कहीं-कहीं वह उन वादों में चक्कर काटकर वापिस घर लौटने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री भी समझने लगा है।

साहित्य के इस वाद, विसंवाद ने मनुष्य जीवन को भी इतना आक्रांत कर डाला है कि बुद्धि का प्रत्येक 'अथ' असंबद्ध और प्रत्येक 'इति' 'अथ' से प्रारम्भ होते दिखाई देते हैं।

यह प्रवाह किधर जा रहा है, इसका अन्त कहाँ है, इसका कौन उत्तर दे सकता है? जिस भविष्य के गर्भ में इसका उत्तर छिपा है उसके अंग नहीं है, वाणी भी नहीं है। कदाचित् उसके पास भाषा भी नहीं है और हमारे पास प्राप्त साधन की तरह न तो वहाँ काग़ज है न कलम, दावात।

फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह साहित्य आज प्रत्येक भाषा मूक मनुष्य की वाणी है, उसका अव्यक्त रव है। जिसने आकाश के तारों को, पूर्णिमा के चन्द्र को, बालसूर्य के हास को मनुष्य के सुख दुःख में समभागी

होने के लिये आहूत किया है। और वह इसलिये कि इस युग में मनुष्य ने अनादि काल से कल्पना में प्रसुप्त, विश्वास में स्थित उस प्रच्छन्न किन्तु ज्ञानान्तसर्वाधिकारी को भी अपने मार्ग से हटा दिया है। उसे अपने अतिरिक्त और किसी में विश्वास भी नहीं रहा है।

आखिर वह इस विश्वास को लेकर करे भी क्या ? क्योंकि अब उसकी दृष्टि वहाँ तक नहीं जाना चाहती जहाँ जाकर वह अपने उपस्थित ध्येय को भूल जाय ? इसीलिये आज साहित्य का उद्देश्य–'मनुष्य का मनुष्य से युद्ध है, ईश्वर से नहीं। उसे मनुष्य पर ही विजय प्राप्त करना है जीवित मनुष्य पर। कवि भी इस संघर्ष को पूरी शक्ति से खुली आँखों से देख रहा है। वह स्तब्ध है, निश्चल है और है दिङ्मूढ, कि क्या वस्तुतः साहित्य का उद्देश्य मनुष्य की मनुष्य पर विजय प्राप्ति ही है, और कुछ नहीं ? क्या सचमुच और कुछ भी नहीं है, और क्या साहित्य इससे आगे जाता भी नहीं है; कविता को यहीं जाकर समाप्त हो जाना है ? तब तो इसके लिये कलम पकड़ने की अपेक्षा कलाकार को अणु बम ही उस समय तक हाथ में लिये रहना चाहिये जब तक अभिप्रेत मनुष्य-वर्ग का नाश नहीं हो जाता ?

कोई कह सकते हैं मैं बात को ग़लत ढंग से पेश कर रहा हूँ। दरअसल यह मनुष्य का मनुष्य से युद्ध नहीं है, सामाजिक विषमता का युद्ध है, आर्थिक बटवारे का युद्ध है; एक वर्ग का दूसरे वर्ग के सामने अस्तित्व का युद्ध है। ठीक है यह युद्ध होना चाहिये, जब प्रकृति के चराचर में युद्ध हो रहा है तो मनुष्य में युद्ध क्यों न हो ?

ठीक है, इसका अर्थ यह हुआ कि साहित्य मनुष्य के युद्ध का इतिहास है या वह प्रवृत्तियों की कहानी है जिसमें मनुष्य के संघर्षों का पूरा-पूरा विवरण है। तब क्या माना जायगा कि मनुष्य केवल युद्ध के लिये ही है और उसका कल्पना प्रसूत साहित्य भी संघर्षों का युद्ध है ? फिर क्या युद्ध के अतिरिक्त मनुष्य एवं साहित्य और कुछ है नहीं ! फिर दया, करुणा, आनन्द, आत्मानुभूति, स्वांतः सुख, निर्विशेष-विवेक, संतोष क्या हैं ? और वह क्या है जिसमें कवि कहता है—

'संसार के सब लोग सुखी हों, सब नीरोग हों, सब कल्याण-मार्ग के पथिक बनें, कोई भी दुखी न हो।' अथवा यह कि 'हम सदा सब के कल्याण की बातें सुनें, सब का भला ही भला देखें और हमारा जीवन उस नदी के

स्वच्छ-जलधार की तरह हो जिससे चींटी से लेकर कुंजर तक, क्रूर, हिंसक से लेकर मनुष्य तक अपनी तृप्ति प्राप्त करें अपनी प्यास बुझा सकें।'

जिसमें—

जलन मेरी तुम्हारे स्वर-सी मधुरतर हो,
निकलते उच्छ्वास को अपना नया स्वर दो।

यह भी तो एक उद्देश्य है जिसमें आत्म-समर्पण द्वारा, हृदय से निरन्तर रिसनेवाले प्रेम-प्रवाह की आपूर गति है। जिसमें कटुता, व्यंग्य, उपहास, क्रूरता की जगह हृदय-दान, प्रेम-विस्मृति और अपराध के लिये दया है। क्या इस हमारी परम्परा का इतिहास भी पश्चिम के जड़वादी देशों की तरह हत्या, मारकाट, समाज की विषमता का इतिहास ही रहा है? फिर क्यों नहीं हम एकबार अपने घर की तरफ देखते? और एकबारगी पश्चिम की चकाचौंध में अपने को भी भूल कर 'हिप्नोटाइज्ड' रोगी की तरह सब कुछ लूट लेने को उद्यत उस 'ववेक' की दवाओं में विश्वास करने लगे हैं जो चार्वाक बृहस्पति की बातें टाई और कोट-पतलून पहन कर कह रहा है?

निश्चय ही यह भौतिकवाद हमारा अन्तिम ध्येय नहीं हो सकता। मनुष्य के 'मैं' और समाज के 'हम' के आगे जहाँ हमारी आत्मानुभूति का पड़ाव है वहाँ भी हम हमेशा जाकर ठहरते रहे हैं और वहाँ के सौन्दर्य से हमारा साहित्य प्रफुल्ल हुआ है। जिसके स्फटिक-स्वच्छ-सरोवर तट पर चिन्तन के आत्म-विभोर कल्हारों का मधुर मकरन्द आज भी भीनी-भीनी सुरभि लेकर शान्त पथिकों को तृप्ति दान करता आ रहा है उसे भूल जाना भी तो जीवन की बड़ी भूल होगी!

आत्म-विभोरता का वह पावन आकर, जिसे अनादि-काल से कवि हृदय का आश्वासन प्राप्त होता रहा है, इस संघर्ष युग में भी वह एकदम हेय नहीं हो सकता। युद्ध के बाद विश्रान्ति के दिनों में उसकी आवश्यकता होगी। इसलिये मैं मानता हूँ हम अपनी संस्कृति के चिरन्तन दीपक पर संघर्ष का ढक्कन डालकर उसे सदा के लिये बुझा नहीं दे सकते। उसे तो जलते रहना होगा और जलाये रखना होगा। नहीं तो विषमता के युद्ध-मेघों की अतिरंजित घटा में फिर हम उसे खोज भी नहीं पायेंगे।

आज इस ज्वलंत प्रश्न को ठीक तरह से समझने की और दिनों से अधिक आवश्यकता है। अन्यथा 'अन्धेनैवनीयमाना यथान्धाः' की तरह

हमारा अस्तित्व साइबेरिया के मैदानों में लेजाकर गाड़े गये बन्दियों की तरह सदा के लिये समाप्त हो जायगा। मैं प्रगतिवाद में विश्वास करते हुए भी, उसकी आर्थिक योजना की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी भारतीय जीवन के परम्परा प्राप्त विवेक के सुसंस्कृतालोक में विश्वास करने को बाध्य हो गया हूँ।

इसीलिये इन कविताओं में मेरा स्वर सिद्ध का न होकर साधक का है उपास्य का न होकर उपासक का है। मैं तो कहता हूँ:—

साँस को सुख दे गये बल दे गये;
कल्पना के वृक्ष को जल दे गये;
विफल होकर बुझ रहे अरमान के—
पंख को तूफान के पल दे गये;
दूर की इस यात्रा में सब मिले—
पराजय, संदेह के अंधड़ चले,
तुम मिले जीवन मिला आकंठ मधु—
हिल उठे कंकाल, उड़ते जड़ चले;
शेष क्या पाना रहा पाकर तुम्हें—

उदयशंकर भट्ट

तिब्बिया कालेज, दिल्ली।

कविता-सूची

एक

मे चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है;
मै चलता मेरे साथ नित्य ही दिन चलता है;

मै श्वास छोड़ता चलता नव आशा स्वप्न संजोकर,
विश्वास जोड़ता चलता जीवन मे हास भिगोकर,
प्रत्येक चरण की गति मे मेरा अस्तित्व सिमटता,
प्रत्येक चरण चलता है सुख दुख मे प्राण पिरोकर,

मै चलता मेरे साथ साथ मधुवन चलता है;
मै चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है;

मै चलता मुझसे आगे दो कदम कीर्ति चलती है,
मै चलता मेरे पीछे अपकीर्ति मुझे मिलती है,
प्रत्येक चरण पर निन्दा-स्तुति दायें बाये आती,
प्रत्येक चरण पर मेरी साधना बिखरती जाती,

मै चलता मेरे साथ कल्पना-धन चलता है;
मै चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है;

दिन-रात मुझे खाते है मैं उनको खाकर बढ़ता,
भय, स्नेह उपेक्षा पीकर विश्वास शिखर पर चढ़ता,
नव परिचय ज्ञान नया ले मै चलता आगे आगे,
पीछे को खीचा करते नैराश्य बीच उठ जागे,

मै चलता मेरे साथ प्रभंजन-स्वन चलता है;
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है;

मैं मेघों की डोरी पर चढ़कर नभ में जाता हूँ,
मैं बिजली के हासों से उल्लास खोज लाता हूँ,
मैं बूदों के नर्तन में जीवन की रिमझिम पाता,
मैं पूर पयोनद का मद गट-गट करके पी जाता,

मैं चलता मेरे साथ नया सावन चलता है;
मै चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है;

उत्थान पतन-कंदुक पर मैं गिरता और उछलता,
साँसो की दीप शिखा मे 'लौ' सा यह जीवन जलता,
धूमायित अगुरु सुरभि सा मैं छीज रहा हूँ पल पल,
मेरी वाणी के स्वर में सागर भरता निज संबल,

मैं चलता मेरे साथ 'अहं' गर्जन चलता है;
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है;

मैं चलता रवि-शशि चलते किरणों के पंख सजाकर,
भू चलती सतत प्रगति-पथ नदियों के हार बनाकर,
झरने झर झर झर चलते भर भर बहतीं सरितायें;
दिन रात चला करते हैं चलते तरुवर, लतिकायें,

मैं चलता मेरे साथ प्रकृति कानन चलता है;
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है;

मैं चलता भीतर भीतर दिल की दुनियाँ चलती है,
कल्पना किरण आभायें अंतर अंतर पलती हैं,
उसके भीतर भी जीवन का ज्वार उठा करता है,
उस जीवन में जीवन का अधिकार उठा करता है,

उस अविक्षेप का इंगित बन कर बन्धन चलता है;
मैं चलता मेरे साथ साथ जीवन चलता है;

मैं चलता मेरे साथ साथ साहस चलता है,
मैं चलता मेरे साथ हृदय का रस चलता है,
मैं चलता मेरे साथ निराशा, आशा चलती,
मैं चलता मेरे साथ सृजन की भाषा चलती,
मैं चलता मेरे साथ ग्रहण, सर्जन चलता है;
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है;
मैं चलता मेरे साथ जाति, संस्कृति चलती है,
मैं चलता मेरे साथ संचिता स्मृति चलती है,
मैं चलता मेरे साथ कुसुम का स्मय चलता है,
मैं चलता मेरे साथ विश्व-विस्मय चलता है,
मैं चलता मेरे साथ गगन वाहन चलता है:
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है;

दो

मणि मंगलमय विजय करो,

वीर प्रसू को, भारत भू को पाप ताप से अभय करो,
जन्म भूमि यह, कर्म भूमि यह, धर्म भूमि भारत जननी,
स्वर्ग भूमि यह, मातृ भूमि यह, कला, कल्पना की अवनी,
अमृत नीरमय, मधु शरीरमय, महाप्राणमय हृदय करो,

मणि मंगलमय विजय करो।

गंगा, यमुना, सरयु, सरस्वति, ताम्रपर्णि-क्षालितचरणा,
विन्ध्य हिमालय, सौख्य सुधालय कल्पवृक्ष-कुसुमाभरणा,
सुर नर-वन्दित जन अभिनन्दित जन मन में नव प्रणय भरो,

मणि मंगलमय विजय करो।

तीस कोटि सुत की माता तू, ज्ञान शक्ति बल की धाता तू,
पंडित, कवि, नीतिज्ञ, तपस्वी, ऋषि, मुनि की पालक त्राता तू,
माँ, फिर इनमें स्वतन्त्रता की शक्ति, अहं, सुख, विनय भरो,

मणि मंगलमय विजय करो।

वीर प्रसू को, भारत भू को पाप ताप से अभय करो;
मणि मंगलमय विजय करो;

तीन

वीणा वादिनि हे ?

हे कुन्देन्दु-धवल-कमल-वदने, कला प्रसादिनि हे,

रस आल्हादिनि हे,

वीणा वादिनि हे !

जयतु जनम्मय वन्दित चरणे, शब्द, अर्थ, ध्वनि, रस आभरणे,

प्रणव निनादिनि हे,

वीणा वादिनि हे ?

चार

वन्दन गीत बनें—

प्राण प्राण के स्वर मेरे अभिनन्दन गीत बनें ;

हो उल्लास हमारे स्वर में,

हो मधुमास हमारे स्वर में;

घर घर रवि के उषा मिलन का स्पन्दन गीत बनें;

वन्दन गीत बनें—

आज दिवस के प्राण गा रहे ;

मन में हर्ष नहीं समा रहे;

प्राणों की मुस्कान, प्रेम के वन्दन गीत बनें;

वन्दन गीत बने—

प्राण प्राण के स्वर मेरे अभिनंदन गीत बनें।

पाँच

रक्त-लिप्त, विष-दग्ध धरा को नव जीवन, नव प्राण चाहिये;
कुंठित गति, लुंठित संस्कृति को अपना पथ निर्माण चाहिये;

युद्ध युद्ध की हृदय विदारक ध्वनि से व्याकुल विश्व प्राण है;
दुर्बल काप रहे हैं भय से बली सज रहे संविधान हैं;
डग मग डग मग भूधर डोले अम्बर प्रलय मेघ छाये हैं;
नियति प्रकम्पित दिग् दिगन्त जड महानाश दल बल आये हैं;
साढ़े तीन हाथ के नर में भरी उदधि निःसीम पिपासा;
हिम-श्रृंगों सी उच्च उमंगें पोर पोर छाई अभिलाषा;

खूनी खप्पर, सत्य; स्वर्ग-सुख—बोलो कैसा ज्ञान चाहिये ?
रक्त-लिप्त, विष-दग्ध, तुम्हें क्या नव जीवन नव प्राण चाहिए ?

दृप्त राक्षसी हिंसा जागी महा काल जागे जल थल में;
नाश नाश औ' महानाश के सुन पड़ते गर्जन पल पल में;
स्वयं गरल औ' अमृत बाँटनेवाला हमने आज खो दिया;
सत्य धर्म का, दया कर्म का प्रेम, मूर्ति सिर-ताज खो दिया;
जिसकी कम्पित पर निर्भय पग ध्वनि सुन मरण अचेत हो गया;
जिस दधीचि की वज्र-अस्थि से सोता विश्व सचेत हो गया;

उसके अनुगामी को हे नर, बस उसकी मुस्कान चाहिये;
रक्त लिप्त, विष दग्ध धरा को नव जीवन नव प्राण चाहिये;

जीवन बिखर रहा पल पल में, प्राण प्राण में, रोम रोम में;
जीवन निखर रहा पृथ्वी पर, जल में, थल में, व्योम व्योम में:
उसे प्राण दो, उसे त्राण दो, रक्त पिपासा युद्ध विकृति है;
इसे मान दो, शुद्ध ज्ञान दो जीवन ही निःशेष प्रकृति है ;
जीने को यह लोक बना है, मरने को परलोक बना है;
तिमिर-हरण के लिए धरा पर रवि-शशि का आलोक बना है;

कलुषित है इतिहास तुम्हारा, कितना और प्रमाण चाहिये ;
रक्त-लिप्त, विष-दग्ध धरा को नव जीवन नव प्राण चाहिये :

छह

[1]जाग उठा हूँ—जाग उठा हूँ;
एक बार फिर—मरण निगल कर--
साँस साँस में, धराकाश में-
नये प्राण भर—
जाग उठा हूँ—जाग उठा हूँ ;
चलते चलते—
गये मेघ घिर—अंधकार फिर,
पथ था बीहड़—'इति' से लड़ लड़,
चीर अँधेरा—
जाग उठा हूँ—जाग उठा हूँ;
पर्वत काँपे—
धरती डग-मग—साहस का जग,
टूटा पग पग, किन्तु भेदकर--
पीड़ा सागर—
जाग उठा हूँ—जाग उठा हूँ:
जाने कैसे—
गये प्राण फिर—लौट हुए थिर,
झरनों के स्वर—रोम रोम भर;
गाकर कहते—
जाग उठा हूँ—जाग उठा हूँ ;

1 सात मास की भयंकर बीमारी के बाद अचानक एक दिन।

सात

जर्जर जीवन बना कल्पना फिर भी रही हरी;
मूर्छित प्राण लहर के उर में बहती रही तरी;

पीकर जैसे तिमिर रात का ऊषा जाग उठी;
पीकर गरल शंभु की आँखें तन्द्रा त्याग उठी;
पीकर विरह प्रेम बढ़ता है जैसे बड़वानल;
पीकर मरण शिशिर बन जाता ज्यों बसन्त विह्वल;

हँस जाती है वैसे उर में कोई स्वप्न-परी;
जर्जर जीवन बना कल्पना फिर भी रही हरी;

जिन यौवन चरणों ने नापा सागर का आँचल;
तूफानों से लड़कर जीवित द्विगुण प्राण संबल;
यौवन के अतृप्त उन्मादी घिरे सघन बादल;
रहे गरजते सहकर भी आघात तडित् चंचल;

उस निष्प्राण गगन में रजनी पूनों की उभरी;
जर्जर जीवन बना कल्पना फिर भी रही हरी;

हिम पानी बन गया शीत का संग न छोड़ सका;
मौन प्राण व्यापार मिलन मृदु रंग न छोड़ सका;
सूखे सर में श्वास हीन मेंढक पर धूल चढ़ी;
फिर जागा निर्जीव किन्तु पी पावस एक झड़ी;

नया प्रेम पा मरती मरती जाग उठी कुररी;
जर्जर जीवन बना कल्पना फिर भी रही हरी;

आठ

नया रूप आया, नया रंग आया उतर स्वर्ग से प्राण शृंगार आया—

धरा न्हा उठी रंग मे भर उमंगें, कली सो उठी, गा उठी कोकिलायें,
बसन्ती नदी सी तरंगें लहर की लगी चूमने, झूमने तरु शिखायें,
खिले पुष्प के कोश हिलकर पवन से सुरभि से भरी भूधरों की शिरायें,
कि मानों उतर विश्व का सार आया गगन हँस उठा, मुस्कराई दिशायें;

कली में, कुसुम-कोपलों में, दलों में, कि उद्यान में काम साकार छाया--

जवानी उठी ज्वार सी इस धरा की, नई हार शृंगार सी उर्वरा की,
नये स्वप्न ले कल्पनायें जगी हैं नई कोंपलो से कथायें पगी हैं,
नये फूल के कूल छू मुस्कराता लिये एक उन्माद आया लुभाता,
यही है, यही है, जवानी यही है, प्रकृति की छलकती कहानी यही है,

इसी के लिये जी रही कोकिला के नये कण्ठ में गीत का ज्वार छाया;

उमड़ती, उलझती, बुझाती, जलन है, नदी की जवानी बरसता गगन है,
जवानी यही तरुलता पल्लवों की, कुसुमकी सुरभि मत्त मधुवल्लभों की,
भ्रमर, सारिका, शुक, चटक, तितलियों की जवानी फुदकते हुए पक्षियों की;
कि नर के लिये किन्तु सब सृष्टि जीवन सभी से उसे मिल रहा प्राण का धन

कि नर फूल से सीख कर मुस्कराना विजय में बदलता चला हार आया;
नया रूप आया, नया रंग आया, उतर स्वर्ग से प्राण शृंगार आया।

नौ

मुझे तुम्हारा बन्धन भी प्रिय;
छविसे प्राण जुड़ा पाऊँ तो मुझे नरक का क्रन्दन भी प्रिय:
तेरी चरण चेतना पीकर मेरे दृढ़ विश्वास खो गये;
पतझड़ की पीड़ा के धूमिल क्षण मादक मधुमास हो गये;
पी छवि-बिन्दु क्षीर सागर की सीपी ने मोती उगले हैं;
जीवन यति ने स्मय का सुख पी पीड़ा के पावक निगले हैं,
मुझे अमृत मिस विष उड़ेलते इन नयनों का वन्दन भी प्रिय;
मुझे तुम्हारा बन्धन भी प्रिय;

नाँप नाँप पद तल से जीवन घूम रही पृथ्वी बन्धन में;
ज्योति पुंज, कन्दुक छवि-धन से घूम रहे नक्षत्र गगन में;
संध्या, उषा, निशा, रवि, शशि औ, ऋतु-पति बंधन में चलते हैं,
कुसुमाकर की साँस साँस में यौवन के झरने पलते हैं,
स्मय की किरण धार बरसो तो मुझे गरलमय चन्दन भी प्रिय;
मुझे तुम्हारा बन्धन भी प्रिय;

कौन काल-दाभिनि के पट पर चरणाकन कर गया चितेरा,
इन्द्र-धनुष के बहु रंगे चित्रों से हृदय भर गया मेरा,
कौन कुसुम की यौवन गति पर चरण ताल दे नाच रहा है,
कौन लहर की स्फटिक बूँद में क्षर क्षर अक्षर बाँच रहा है,
रस कादम्ब बिन्दु भी दो तो मुझे मरण निःस्पन्दन भी प्रिय;
मुझे तुम्हारा बन्धन भी प्रिय ?

दस

साहित्यस्रष्टा : मैं

अनुपल वृद्ध जीवनोदधि के गगन विचुम्बित—
क्रुद्ध तरंगित नव तूफ़ान पचाकर मैंने,
क्षण-क्षण गल-गल कर,
क्षण-क्षण पल-पल कर,
प्राणों के उन्मेष सृजन के लिये अशेष,
महा मानव के—
क्षयित, शयित, अभिशप्त,
धूम के साथ प्रज्ज्वलित—
कभी-कभी उठती ज्वाला से—
जो संदेश दिये,
जो उद्घोष किये;
कल्पना के सागर में तिरकर,
और शिला की तरह पैंठकर,
और उड्डयन कर उकाब सम,
और घाव की तरह फूट कर,
ज्वालामुखी भूधरों के सम—
सतत फाड़कर अन्तरतर को,
ओजमयी वाणी में तुमको—
उठा-उठाकर पहुँचाने में—
नीचे से ऊपर को बन्दी;
नव अनुभव के साथ—

नये जीवन के साथ—
नये मानव के स्वर से—
विश्व-प्राण के—
महाप्राण के स्पन्दन से भर—
कम्पनमयी शिरायें छूकर;
तथा व्यथाएँ माँग-माँग कर—
निज अनुभव को, अन्तर सुख को—
और दिवंगत सौरभ सुख भी स्वर्ग, हास, उल्लास गगन के,
प्रकृति-प्रणय के,
नव अभिनय के;
उनको क्या तुमने जाना ?
उनको क्या तुमने माना ?

नहीं, नहीं,
तुमको वह क्या है !
तुम हो अरे, समृद्ध-धनिक,
बहुभृत्य सुपूजित,
अर्चित पदरज,
कामना पूर्ण—
मोटर-महलों के, विभव-हास के,
सद्य कामिनी-क्रीड़ा-फेन-स्नय अभिनन्दित—
वन्दित कल-कल,
पुलकित पल-पल,
आलिंगन चल,
रस चुम्बित मुख,
आहत दुख सुख,

आश विगर्वित,
हस समुन्नत, उन्नत वक्षस्थल;

तुम क्या जानो बाहुपाश में—
अभिलाषा-सी
सुहासिनी के—
बद्ध ?
और खेलते केवल धन से,
मानव के विह्वल-स्पन्दन से,
सदाकर्षि—
मृदु आकुंचन से;
तुम क्या जानों—
लिखे रुधिर से—
अपमानों से—
और उपेक्षा से तुम सब की,
वरदानों-सी नई-नई—
साहित्य-सृष्टियाँ,
अभिनव कृतियाँ;
अवकाशों में धराकाश के—
महानाश से खेल-खेलकर !
जो लिक्खी मैंने ?

तुम क्या जानों राजनीति की—
शुष्क कुंज में नये चमकते जुगनू—
मुझ को !
तुम क्या जानो एक बार, दो, बार

अनेकों बार बन्द बन्दीगृह,
सस्पृह,
साभिलाष,
ऊँचे पद-पद के—
अभिलाषी अस्थिर सुख-प्यासी,
राहु अरे, साहित्यिक शशि के ?

तुम पढ़ते हो मेरी कृतियाँ,
धर देते हो वहीं मेज पर,
"अच्छी है हाँ, सुन्दर भी है,"
और उसी के साथ गर्व से—
नीचे से ऊपर तक डाले—
कुटिल दृष्टि को,
स्वयं गर्व से फूल-फूल कर,
कर्त्ता-धर्त्ता बन जाते हो—
दीन सृष्टि के,
करुण दृष्टि के,
जिसका मैंने लिया सदा सत्पक्ष !

निरपेक्षित मानव का प्रतिनिधि—
रक्षण करता मैं जीवन का—
न्यायाध्यक्ष, तुम्हारे भक्षण से ।

उत्तर देते साभिमान तुम—
कौन निराला ? हाँ वह कवि है; किन्तु समुन्नत !
प्रेमचन्द, अच्छा लेखक था,

जयशङ्कर, क्या वह भी कवि था ?
और पंत, भाषा अच्छी है,
बच्चन भी कुछ-कुछ गाता है,
और महादेवी, हाँ नाम सुना है !
कवि तो शैली, वर्ड्सवर्थ या कीट्स हुए हैं;
नाटक भी शेक्सपियर लिख गया,
या इब्सन, शा, गाल्सवर्दि ही—
प्रभृति यही लेखक हैं केवल।
क्या तुम भी कुछ लिख लेते हो ?
हिन्दी के लेखक, ये क्या हैं ?
क्या लिखते हैं ?
किन्तु हमें तो बालकृष्ण अच्छा लगता है—
राजनीति का चतुर खिलाड़ी !
देखो भाई, कांग्रेस में काम करो,
होगा सुनाम,
और तुम पूजे जाओगे,
बंगला होगा,
मोटर होगी,
नौकर होंगे !
फोटोग्राफर, समाचार-पत्रों के प्रतिनिधि,
सभी तुम्हारी सरल, तरल और वक्र-दृष्टि के,
मुस्काहट के, खाँसी, ज्वर के,
मोटर में चलने पर भी तो कुछ थकान के,
नींद न आने के भी देंगे समाचार,
चित्रों के नीचे—
बड़े-बड़े मोटे टाइप में;

लेंगे आटाग्राफ !

× × ×

'अरे नहीं यह नहीं, हमारा,
प्रगतिशील यह नहीं, क्योंकि—
विश्वास नहीं इसका रशिया में,
मार्क्सवाद में,
कम्यूनिज्म में,
जो है केवलमात्र महौषधि;
भारत की ही नहीं-नहीं,
इस व्यस्त सृष्टि की ।
इसपर है विश्वास न जिसको और नहीं 'टोटो' कह देता,
वह कैसा कवि, कैसा लेखक, कैसा वक्ता,
औ' आलोचक !
हैं कुछ ही लेखक, आलोचक,
कवि, उनके क्या नाम गिनाएँ !'
--रह-रह कर उल्टे-सीधे या पत्रों में भी,
उनका डिङ्डिम पीटा जाता—
"प्रगतिशील ये, प्रगतिशील वे !
फिर भी तप कर, गल कर, पिसकर,
दलित, उपेक्षित, घृणापात्र-सा,
नित्य नया साहित्य दे रहा;
वन उपवन में, झंखाड़ों में,
घिरे-घिरे से नव-प्रसून-सा,
मधु रस सौरभ !
बोल रहा अभिनव वाणी में,

पिक की, घन की
स्वर देकर आँसू पीड़ा को,
प्राण व्यथा को,
पिसते हुए प्राण मानव को,
तार सप्त निःस्वाभिमान भर,
त्रिंश कोटि मानव के स्वर का—
प्रतिनिधित्व कर भास्वर स्वर में,
निर्झर के झरते प्रवाह सम,
विषम व्यथा मे कुंचित होकर।

मैं विषपायी अमृत उद्गिरण रुद्र चन्द्र-सा
करता रहता;
मै हूँ केवल मानववादी,
निज संस्कृति का,
शुद्ध प्रकृति का,
महादेश का,
सदुद्देश का,
जन-कल्याण मार्ग का पन्थी,
अचल रहूँगा अपमानों में,
पीकर घृणा, उपेक्षा पीकर,
स्वाभिमान सम उन्नत-भूधर,
व्यूढोरस्क-हिमांचल-संबल।

मेरे लिये मरण कब जन्मा,
गिरि गह्वर से उठ अविनश्वर,
अनुपल, अनुक्षण मेरा ही स्वर—
नभ के मस्तक में गूँजेगा।

ग्यारह

मैं देख रहा हूँ परिवर्तन, जाने परिवतन क्या होगा ?

जग प्रति पल बढ़ता जाता है,
नव जीवन गढ़ता जाता है,
शूलों की तीखी नोकों पर—
फूलों को जड़ता जाता है;

पर फूल बिखरते मुरझा कर—मुरझाया मधुवन क्या होगा ?

दिन-रात बदलते जाते हैं,
विश्वास बदलते जाते हैं,
पल-पल में मानव के स्वर से—
अभिशाप बदलते जाते हैं;

इस उथल-पुथल में पल-पल की—मानव-संवर्धन क्या होगा ?

कवि स्वयं पुकार रहा हलचल,
विध्वंस उठ रहा है जल-थल,
शृङ्गार फूल का स्वयं छोड़—
मानव मानव के हित चंचल;

पर पीता अवश घृणा का विष, विष-मानव का मन क्या होगा ?

फट-फट कर बादल घिर जाते,
जुड़ते-जुड़ते मन फिर जाते,

विश्वास नये उठते-उठते—
टकराते और बिखर जाते;
जीवन की जगह मरण-घन का यह नृत्य चिरंतन क्या होगा ?

तुम कर से निज कर काट रहे,
अपना ही लोहू चाट रहे,
अपने हाथों से कबर खोद—
अपने शरीर को पाट रहे;
हे ईश्वर-सुत, इससे बढ़ चढ़—जाने पागलपन क्या होगा ?

अनुभव-विवेक दो पहियों पर,
चलता समाज का रथ मृदुतर,
दोनों हो एक बढ़ें आगे,
हों एक साथ गति-यति पथ पर;
इससे बढ़कर फिर और भला, मानव-संजीवन क्या होगा ?
मैं देख रहा हूँ परिवर्तन, जाने परिवर्तन क्या होगा ?

बारह

महा स्वप्न में कल्पना जगती है निशा चुप, दिशा चुप गगन चुप खड़ा है;

लहर सी समुन्मादिनी चाँदनी चुप,
निशा क्रोड़ सोई धरा रागिनी चुप,
विहगि चुप विहग पंख में तन छिपाये,
भ्रमर चुप कुसुम कल्पना में रमाये,
सभी वृक्ष बेलें लता, झाड़ियाँ चुप,
जलद जल लबालब भरा क्यारियां चुप,
प्रणय पन्थ में जागती याद केवल,
विशद चेतना में प्रतीक्षा खड़ी चुप;

मस्फुटण कोपलों पर संजोये निराशा कली का हृदय धन सुमन चुप खड़ा है;

पवन की नदी में सुरभि वह रही चुप;
निशा स्वप्न से चाँदनी कह रही चुप;
चपल तारिकायें हृदय को बिछाये;
किसी का प्रणय पुनलियों में झुलाये;
उगी कल्पना को, जगी भावना को;
निराशा पगी भग्न मन साधना को;
विभव से प्रपंपित पराभव खड़ा चुप;
नये स्वप्न से जग महाश्चर्य भी चुप;
कुसुम कोपलों पर जड़े मोतियों से—
अमृत विन्दु साकार शृंगार भी चुप;

जवानी कहीं है, बुढ़ापा कहीं है कहीं आँख में वाँकपन चुप पड़ा है;

निशा जारही है, उषा आ रही है;
विपल, पल, कला को घड़ी खा रही है;
तिमिर चल रहा है ढके साँस मेरी,
गगन पी रहा है हृदय की अँधेरी;
लिपट सो रही हैं सजग लालसायें,
कहीं जल रही हैं प्रणय की शिखायें,
कहीं प्राण सोते समुच्छ्वास पीकर;
बरसते कहीं स्वप्न के सृष्टि सीकर;
कहीं मृत्यु मुख में जरा जा रही है;
जवानी नये होश में आ रही है;
हृदय सृष्टि है चेतनामय जगत् की कि आकारमय तन बसन चुप पड़ा है;

महाकाल के प्राण केवल सजग हैं,
नियम में बँधे ज्योति के चित्र खग हैं;
प्रतिश्वास निश्वास की सृष्टि केवल,
गगन में सतत उड़ रहे प्राण केवल;
सुनाई मुझे दे रहा मूक चेतन—
समावृत पुलक में महाप्राण का स्वन;
अलक्षित, अबाधित, प्रतिक्षण, अचंचल;
नये सृष्टि के प्राण युगले, नयाबल,
नई चेतना में बदल सब रहा है!
नई सृष्टि के पृष्ठ में छप रहा है;
क्रिया विक्रिया में बदलता सभी को;
महाकेन्द्र का बिन्दु आनंद भी चुप;
दिखाना, बदलना, चलाना नियम में सतत सृष्टि का सूत्र क्रम चुप खड़ा है;

तेरह

समय के सभी साथ जीवन बदलते—
समय को बदलता हुआ तू चला चल;

कि भर आत्म विश्वास हर साँस में तू,
उषा का लिये हास हर आस में तू;
उड़ादे सभी त्रास उच्छ्वास में तू;
बदल दे नरक के सभी दृश्य पल में—
बना दे अमृत विश्व का सब हला हल;

निराशा तिमिर में रुका है नहीं तू;
न तूफान में भी झुका है कहीं तू;
जगत चित्र की तूलिका है सही तू;
तुझे विश्व मदिरा पिलाये भला क्या—
स्वयं विश्व को प्राण दे औ' जिला चल;

निशा में तुझे चाँद ने पथ दिखाया;
प्रलय मेघ ने बिजलियों को बुलाया;
थके प्राण को सिंह का स्वर पिलाया;
धरा ने बिछा दिल, नगों ने उठा सिर,
बनाया तुझे तू नया जग बना चल;

समय के सभी साथ जीवन बदलते—
समय को बदलता हुआ तू चला चल;

चौदह

हार का अगला कदम बढ़ जीत बन जाता;

हलाहल के घूँट गटगट पीसके है जो;
बिजलियो की लपक पीकर जी सके है जो;
साधना के पन्थ मे अंगार के साथी—
प्राण देकर दो दिलो को सी सके है जो:

मरण का उल्लास उनका मीत बन जाता;

प्रेम को आचार का व्यापार कब भाया;
और छवि को तर्क अधिकार कब भाया;
जिस जगह जा रुक गया वह ध्येय बन बैठा;
आंख को फिर किसी का संसार कब भाया ?

आह का हीं धूम उड़ उड़ गीत बन जाता,

अमावस की रात आई चाँदनी पीकर;
हृदय मे बरसात लाई चादनी पीकर
टिक न वह भी सकी केवल रात से आगे;
फूट कर दिन बनगई वह चाँदनी जीकर;

जलन का अति रूप ही अति शीन बन जाता;
हार का अगला कदम बढ जीत बन जाता—;

पन्द्रह

भूल के इतिहास में है लक्ष्य को पाना—
निशा घूँघट में चमकते चाँद का आना;
उषा का गौरव निशा के तिमिर से खिलता;
कमल का सौंदर्य बसते पंक में मिलता;
और मोती सीप में रह कर बड़ा होता;
मिलन बनता विरह का उद्दाम बन जाना—
प्रियतमा की याद मन का मीत बन जाती;
प्यार की बरबादियाँ ही जीत बन जातीं;
बंदिनी के प्राण अटके कंठ में जाकर;—
हिलकियाँ उसके हृदय का गीत बन जातीं;
सतत पतझर में छिपा मधुमास हो जाना—
शूल से डरता रहा वह पा सकेगा क्या ?
भूल से डरता रहा वह जा सकेगा क्या ?
पतन से डरता उसे है दौड़ना मुश्किल—
डूबने का डर उधर पहुँचा सकेगा क्या ?
जलन में है दीप का आलोक भर जाना—
पैर के हर चिन्ह में है ध्येय की धड़कन;
प्राण की हर गाँठ में मुसका रही सुलझन;
कसकता है आँख में जो रूप का तिनका—
वही बन जाता हृदय का, प्राण संजीवन;

'आह' को पाना नहीं पर 'आह' बन जाना—
भूल के इतिहास में है लक्ष्य को पाना ।

सोलह

प्राण प्रकाश करे—
कला भवन में ज्ञान कामना सहज विलास करे ;
कल्पलता के कुसुमों का सौरभ दामिनि में छन,
स्वाति सिक्त मन्दार सुमन की रज से पूत पवन,
पुलकित प्रणय-कल्पना की मधुमय साँसों के त्तन,
और पुष्पशर की क्रीड़ा से पुलकित रति कंकन;
जीवन के प्रति पद पतझड़ को नव मधुमास भरे;
प्राण प्रकाश करे—
जलन हृदय की नेत्र ज्योति बन प्राण प्राण छा जाय;
बने आरती लहर लहर का शशि चुम्बन मुसकाय;
तिमिर वरण आचरण धरणि की खनि से हीरक जाग;
बने गगन के निःस्वन तनु तनु मानस सुमन पराग;
पीड़ित मानव में नव सौरभ नव नव हास भरे—
प्राण प्रकाश करे—

सत्रह

चलो बढ़ो, बढ़े चलो मनुष्य है बुला रहा—
दिवस चले, निशा चली,
रुकी नहीं उषा चली;
महान् पन्थ पार कर—
मनुष्य की तृषा चली;
न रुक सका मनुष्य यह, मनुष्य कुल बुला रहा—
घड़ी घड़ी बदल रही,
घड़ी घड़ी उगल रही—
नवीन क्रांति, क्रांति क्रूर—
बिजलियाँ मचल रहीं,
मनुष्य यह न प्रेत जो मनुष्य को भुला रहा—
सघन घिरे, गगन फटे,
तिमिर हटा, कुहर छटे,
प्रशस्त पंथ जग मगा-
उठे विहंग आ जुटे;
बढ़ा कदम, न मुड़, न रुक कि स्वर्ग पास आ रहा—
मनुष्य है मनुष्य बन,
मनुष्य ही विशाल तम,
कि विश्व कल्प-वृक्ष का-
मनुष्य है अमर कुसुम;
प्ररोम रोम सृष्टि का अखण्ड गीत गा रहा—

अठारह

विवश. रुद्ध ये प्राण, प्राण दो प्राण नये—
होठो तक आकर भी वाणी रुद्ध हुई:
हूक उठी साकार पंजर बद्ध हुई;
कौन कहे—यह ज्वार हृदय मे स्पंद नहीं:
निर्मम जीवन भार प्राण स्वच्छन्द नहीं:
दो मेरा अधिकार, प्रति स्वर मान नये:
विवश रुद्ध ये प्राण, प्राण दो प्राण नये;
जीवन यह तूफान कहां तक सहन करें:
प्राण, प्राण के बाण कहाँ तक सहन करें:
केवल करुणा कोर हृदय का हास दो:
जीने का अधिकार उदधि विश्वास दो:
फिर न रुकेगें गान, गान दो गान नये;
विवश रुद्ध ये प्राण, प्राण दो प्राण नये;
मंजिल फिर क्या दूर, राह पर पैरब ढ़ें;
वह नर यात्रा नहीं न पथ मे विघ्न पड़े:
जीवन का क्या मोल मरण का त्रास न हो;
मरण वही है मरण कि प्रिय भी पास न हो;
मूक हृदय मे ध्यान, ध्यान दो ध्यान नये:
विवश रुद्ध ये प्राण, प्राण दो प्राण नये;

उन्नीस

जीवन में सब से अधिक बार 'मैं' का उपयोग मैंने—

मैं एक 'अहं' ले उठा और—
जो अड़ा उसे ही दिया पीस,
जो खड़ा विघ्न बन कर आगे—
उसका भी कुचला वहीं सीस;
बिजलियाँ तार में भर डालीं—
औ' काल घड़ी में बन्द किया,
उंचास पवन पर थिरक थिरक—
फूलों का हँसना छंद किया;
तारों की दूरी नाप नाप—
उनकी किरणों के अस्त्र किये,
सागर की गहराई पीकर—
यानों के विघ्न निरस्त्र किये;
नदियों की छाती पर नाचा,
सागर की लहरों पर नाचा,
बादल में उड़ता रहा और—
अंगारों की 'लौ' पर नाचा;

जो पा न सका वह पाने का अनथक उद्योग किया मैंने;

मैंने कठोरता लोहे से—
औ' दृढ़ता सीखी पत्थर से,

सागर से गहराई लेकर—
गर्जन बादल की थर थर से:
बिजली से गति, तरुओं से यति.
छाया से बदल बदल जाना—
तूफानी सरि से अहं छीन—
अपने को सबसे बढ़ माना:
साँपों के फन कुचले, पीकर—
हालाहल उगल दिये मैंने—
औ' नाश दूसरे का करके—
जीवन को सफल किया मैंने:
पूर्वज पशुओं से नया नया—
पाकर यह क्रूर कपाल भरा:
जीवन में अपना दृष्टिकोण—
भरकर आशा को किया हरा:

निज निर्मित पथ पर चल पल पल सब ओर प्रयोग किया मैंने:

पर जैसे जैसे सबल बना,
वैसे ही वैसे निबल बना:
मेरी कमजोरी ने मिलकर—
मेरे दुःखों को किया घना:
मेरी कमजोरी ने मिलकर—
ईश्वर का भी निर्माण किया,
अस्तित्वहीन उसने आकर—
मानव में भेद विधान किया:
दुख से हट कर सुख पाने का—
संतोष—बहाना ईश्वर था.

अपने को जाने बिना सही—
कल्पित को पाना ईश्वर था;
जब दुख के घन घहराते हैं;
तब दुख रचता है ईश्वर को;
कल्पना प्रसव करती तब ही—
मानव की त्रुटि को—ईश्वर को;

तब नई विवशता से घबरा ईश्वर से योग किया मैंने;

जैसे जैसे सुख को खोजा,
दुख उनके साथ जुड़े आये;
यौवन, सौन्दर्य, सबलता ने—
संकुल कंकाल खड़े पाये;
बेबसी झाँकती जहाँ मिली,
कल्पना ताकती वहाँ मिली,
मेरी कमजोरी अंधी बन—
विश्वास आँकती वहाँ मिली;
विश्वास रहा मुझ में न कहीं
अपने पर, अपने जीवन पर,
मेरी परवशता ने बढ़ कर—
नोचा मेरा अंतर अंतर;
मै जान सकूँ यदि मैं ही हूँ—
अपने जीवन का निर्माता,
अपने सुख का औ' संस्कृति का—
स्रष्टा, संहर्ता औ' धाता;

फिर पुनर्जन्म के तापों से,
फिर पूर्वजन्म के पापों से,
फिर ईश्वर का आक्रोश छोड़—
मैं जी जाता अभिशापों से;
फिर किया न होता स्वयं कभी दुःखों का नित्य भोग मैंने;
मुझ से ही सृष्टि सफल प्रतिपल,
मैं मूक प्रकृति की गान गिरा;
मेरे प्रकाश से आलोकित—
अणु अणु की गतिमय प्राण शिरा;
मैं हूँ समाज विद्युत् का 'स्विच',
मेरा व्यक्तित्व अखंड प्रबल,
मेरा प्रकाश ही जीवन है,
मैं जाग रहा निशि दिन पल पल;
मैं हूँ अपना कल्याण शुद्ध,
मैं स्वयंभूत हूँ सद्विवेक,
मैं मूल प्रकृति आनन्द कुसुम,
खिल रहे मुझी से जग अनेक;
'मैं' का निर्माण करो साथी,
'मैं' का सम्मान करो साथी,
'मैं' महासृष्टि का शुद्ध सत्व—
'मैं' की पहचान करो साथी;
अपनी ही भूलों से जग में पैदा यह रोग किया मैंने;
जीवन में सब से अधिक बार 'मैं' का उपयोग किया मैंने;

बीस

प्रलय में, तिमिर में, न तूफ़ान में भी—कदम ये रुके हैं न रुक पायँगे ही—

जगत की सुबह से चला, चल पड़ा मैं,
अड़ी चोटियाँ पर न पीछे मुड़ा मैं,
न मैं रुक सका बादलों की घटा में,
भटकता रहा पर न पीछे हटा मैं,

अड़ी थी शिलायें, खड़ी झाड़ियाँ थीं,
नदी थी तरंगित गहन खाड़ियाँ थीं,
उफनती हुई पार करते सरित को,
चमकती हुई प्यार करते तड़ित को;
गगन चूमती औ' उछलती लहर को,
लिया बाँध दिन-रात को औ' प्रहर को;

कि हर पैर के चिन्ह पर दौड़ती सी,
उगलती अँगारे हृदय तोड़ती सी,
कदम से कदम बांधकर साथ मेरे,
चली मृत्यु दिन-रात सायं सबेरे;

प्रगति रोक दे जो भला कौन ऐसा, अड़ें विघ्न उनको निगल जायँगे ही—
प्रलय में, तिमिर में, न तूफ़ान में भी—कदम ये रुके हैं न रुक पायँगे ही

जिधर मैं चला बन गई राह मेरी,
नज़र डाल दी हो गई चाह मेरी,
चला आ रहा बिजलियों को सुलाए,
किरण जाल ने आ नये पथ बनाये;

इधर एक मेरा बहुत बन गया जब,
अँधेरा उषा में मिला हँस गया जब,
सभी सृष्टि के साज मैंने सजाये,
उदधि ने गरज जीत के गीत गाये;
लिये एक कर सृष्टि संहार आया,
लिये दूसरे सृष्टि व्यापार आया;

सचाई मिली प्यार से जोड़ डाला,
अहंकार को शक्ति से मोड़ डाला,
सभी खूँद अभिशाप आगे चला मैं,
स्वयं शक्ति की आग में हूँ जला मैं,

न फिर भी हटे पैर पीछे हमारे—चले थे, चले हैं, चले जायँगे ही—
प्रलय में, तिमिर में, न तूफ़ान में भी—कदम ये रुके हैं न रुक पायँगे ही;

लगी आज प्रासाद में आग मेरे,
बिरोधी बने आज अनुराग मेरे,
स्वयं बन्धनों में बँधा हूँ व्यथा के,
बदल सब गये रूप जीवन कथा के;

चला मैं बुरे पन्थ पर, नेक पथ पर,
प्रयोगी बना किन्तु बैठा न 'अथ' पर,
चलूँगा भले ही भला मार्ग ही हो,
चलूँगा भले ही बुरा मार्ग ही हो,
मिलेगी बुराई उसे छोड़ दूँगा,
मिलेगी भलाई उसे जोड़ लूँगा;

कहो मत कि ठहरूँ—ठहरना नहीं है,
अरे, डूबने पर उभरना सही है,
उछलता, उभरता तथा डूबता मैं,
चलूँगा सदा दौड़ता, ऊबता मैं;

कि हर भूल से है जुड़ा सत्य का पथ—रुकेंगे नहीं 'लक्ष्य' को पायँगे ही—
प्रलय में, तिमिर में, न तूफान में भी—कदम ये रुके हैं न रुक पायँगे ही;

न मैं चाहता मुक्ति को प्राप्त करना,
न मैं चाहता व्यक्ति का रूप धरना,
सभी विश्व मेरा सभी प्राण मेरे,
चलूँगा सभी विश्व को साथ घेरे;

सभी स्वप्न हैं देखते एक मंजिल,
सभी जागरण में निहित एक ही दिल,
भटकते हुए भी उधर ही चलेंगे,
अटकते हुए भी उधर ही चलेंगे,
जहाँ फूल सा विश्व खिलता रहेगा,
लहर पर जहाँ शशि मचलता रहेगा,

जहाँ एक ही जाति होगी धरा पर,
जहाँ एक नर पाँति होगी धरा पर,
जहाँ संघ में प्राण अनुरक्ति होगी,
वहाँ प्रेम होगा—वहीं शक्ति होगी,

वहाँ स्वर्ग होगा मनुज के हृदय में—किसी दिन कभी तो पहुँच जायँगे ही—
प्रलय में, तिमिर में, न तूफान मे भी—कदम ये रुके हैं न रुक पायँगे ही;

इक्कीस

मैं पंथी पृथ्वी, सागर का लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं;
रुकना कहीं बीच में मेरा ध्येय नहीं, व्यापार नहीं ;

मैं संघर्षों का प्राणी हूँ भय से लूँ भिक्षा कैसी ?
मरण अगर त्यौहार न हो तो जीवन की दीक्षा कैसी ?
उमँग-उमँग पड़ती उमंग जो वह बलिदान पुकार रही;
पृथ्वी में तल्लीन बीज की होती है क्या हार कहीं ?

वह जीवन है, वह जीवन है—तुम उसका सम्मान करो;
अणु-अणु में गति, शक्ति भरी है पलपल का आह्वान करो;
सूख चला आँखों का पानी युग-युग से रोते-रोते;
शीतल आँसू गैस हो चले जलन भरी पीड़ा ढोते;

रोक सके अप्रतिहत नौका ऐसा पारावार नहीं ;
मैं पन्थी पृथ्वी, सागर का लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं ;

देह जलाकर, भूख भुलाकर, घुल घुलकर जीना मुश्किल;
सदा ताकते रहकर ऊपर अपना खूँ पीना मुश्किल;
कभी न बरसा है बादल से जीवनदाता अमृत सलिल;
अमृत सलिल की ही आशा में बैठे रहना है मुश्किल ;

विषको अमृत बना देगा तू अरे कीमियागर साथी;
भू को स्वर्ग बना देगा तू स्वर्णनदी रस बरसाती;
सोना उगल रही है पृथ्वी-पृथ्वी को लंका कर दे—
यदि समूल ही वर्गवाद को एक बार नंगा कर दे;

प्राणों में क्या प्रलय विकम्पित उठता है, वह ज्वार नहीं;
मैं पन्थी पृथ्वी, सागर का लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं;

रोक सकेगा कौन उमँगते दीपक पर परवानों को,
फूलों पर मडरानेवाले भौरों के मधुदानों को,
मैं बलिदान बुला लाया हूँ लक्ष्य न टूटे, प्राण गलें,
लाशों के ऊपर जीवन के अभिनव दीप उदान जलें,

संध्या आती है आने दो, अमा बढ़े, तारक डूबें,
अगणित उल्काओं के क्षण-क्षण जीवन संवाहक डूबें,
फिर भी पथ अवरुद्ध न होगा जहाँ पग पड़ें, पन्थ बने,
मानव पशुता से ऊँचा उठ मानव राग वसन्त बने;

नई सृष्टि में नये कोष में वाक्यावलि साकार यही;
मैं पन्थी पृथ्वी, सागर का लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं;

कभी मरण के तत्त्व उबलकर युद्ध पिशाच जिला जाते,
जीवन के अभिशाप समूचे बुझती आँच हिला जाते,
मस्तक के विकार स्वार्थों की आँखों को धुँधला देते,
विश्वंभर की मानवता को ये आकर कुँठला देते;

किन्तु मुझे क्या मैं तो अपना ध्येय एक दिन पाऊँगा,
मरण रहे पर 'आह' न होगी, राह एक दिन पाऊँगा,
मैं देवत्व नहीं चाहूँगा राक्षसत्व की बात नहीं,
मेरी मानवता में होगी दुःखों की बरसात नहीं;

मेरा एक सुनिश्चित पथ है भूत, भविष्य—विकार नहीं;
मैं पन्थी पृथ्वी, सागर का लक्ष्य यहाँ मँझधार नहीं;

दुख बरसात बुलाओगे तुम शरदाकाश बना दूँगा,
जीवन के प्रत्येक त्रास को मैं मधुमास बना दूँगा,
तुम आँखों में प्रलय बन्हि भर अस्तव्यस्त करो जग को,
मैं पुकार कर यही कहूँगा—तुम मत त्रस्त करो जग को;

जाति, देश की सीमाओं में जीवन नहीं, विकास नहीं,
मुझे धर्म की विकट रूढ़ि में बँधने का अभ्यास नहीं,
हम सब एक, एक है जीवन बान्धव हैं भाई भाई,
आत्मनाश की यह कायरता तुममें जाने क्यों आई ?

अरे, तुम्हारी ही प्रतिछाया देखो दूर पुकार रही;
मैं पन्थी पृथ्वी, सागर का लक्ष्य यहाँ मँझधार न हीं;
रुकना कहीं बीच में मेरा ध्येय नहीं, व्यापार नहीं;

बाईस

ये तूफ़ानी चरण जवानी के—
हटना हटना पीस न डालें जग मनमानी के;

चिनगारियाँ उठ रहीं पल पल जल जल दहकीं रे;
कौन बुला लाया आँधी को मस्ती महकी रे;
फिर न रुकेंगे चरण मरण को वरण कर चले जो;
फिर न रुकेंगे बड़वानल के स्वप्न बढ़ चले जो;

रोक सको तो प्रलय रोक लो बढ़ सिरदानी के;
ये तूफ़ानी चरण जवानी के—
हटना हटना पीस न डालें जग मनमानी के;

लो तूफ़ान बढ़े आते हैं उठते हर दिल में;
बिगुल बज रहा महामृत्यु का मेरी महफिल में;
क्रोधावृत अंगार दहकते आँखों मे झलके;
टूट रहे प्रण प्राण प्राण के पराधीन कल के;

क्या होगा कल कौन कहे स्वर बेकल वाणी के;
ये तूफ़ानी चरण जवानी के—
हटना हटना पीस न डालें जग मनमानी के;

प्रकृति भयंकर हो जाती है पिसती जाती जो;
फट पड़ती बिजलियाँ गगन में बढ़ टकराती जो;
ज्वालामुखी फाड़ देती है नभ चुंबी नग को;
भू का कंपन पीजाता है वैभव को, जग को;

मचल उठे हैं प्राण जगत के सोये प्राणी के;
ये तूफ़ानी चरण जवानी के—
हटना हटना पीस न डालें जग मनमानी के;

तेईस

शेष क्या पाना रहा पाकर तुम्हें—

तुम मिले अरमान पूरे हो गये,
प्राण के वरदान पूरे हो गये;
दीपवालों को अमावस है नहीं,
दृष्टि के यदि दान पूरे हो गये;
होश जिसने भी दिया वह कह गया—
स्वर्ग बस, दो हाथ तुमसे रह गया;
स्नेह मे डूबा न जो उभरा कहाँ—
प्रणय सागर मे गया औ' बह गया;

शेष क्या पाना रहा पाकर तुम्हें—

स्वर्ग से उतरे कभी विश्वास क्या ?
बिजलियों से जले हैं आकाश क्या ?
मूक दृढ़ संकल्प के पैरों तले—
प्रिय मिलन का और हो इतिहास क्या ?
ज्ञात वह इतिहास तुमको हो न हो,
प्राण का विश्वास तुमको हो न हो;
होश मेरे तुम्हें ही खोजा किये—
तुम मुझे मधुमास, तुमको हो न हो;

शेष क्या पाना रहा पाकर तुम्हें—

साँस को सुख दे गये, बल दे गये,
कल्पना के वृक्ष को जल दे गये;
विफल होकर बुझ रहे अरमान के—
पंख को तूफ़ान के पल दे गये;
दूर की इस यात्रा में सब मिले,
पराजय, संदेह के अंधड़ चले,
तुम मिले जीवन मिला आकण्ठ मधु—
हिल उठे कंकाल, उड़ते जड़ चले;

शेष क्या पाना रहा पाकर तुम्हें—

चौबीस

मैं तुम्हीं में मिलूँ मेरे गीत तुमको पायँ;
स्वर्ग भी उतरें तुम्हारे हास में सो जायँ;

जलन मेरी तुम्हारे स्वर सी मधुरतर हो;
निकलते उच्छ्वास को अपना नया स्वर दो;

साँस उठ-उठ कर कहानी कहे औ' सो जाय;
मैं तुम्हारा बनूँ मेरे गीत तुमको पायँ;

हृदय ने माँगा मचलता प्यार, वह पाया;
नयन ने माँगा मधुर छविभार, वह पाया;

सुनो, मेरे प्राण तुम में प्राणमय हो जायँ;
मैं तुम्हारा बनूँ मेरे गीत तुमको पायँ;

पच्चीस

आज हम स्वतन्त्र हैं—
आज हम स्वतन्त्र हैं;
नींव खोद कर खड़ी, सुमेरु सी बड़ी-बड़ी—
दो शताब्दी की बनी,
महल नहीं—
महान् जेल,
दासता, विषाद की,
दुःख, दैन्य, त्रास की,
विनाश की महान एक—
आज सब जली जली;
आज हम स्वतन्त्र हैं;

× ×

बन्दिनी सुभारती उतारती खड़ी-खड़ी—
हथकड़ी,
घड़ी-घड़ी,
तोड़ कर फैंकती,
चटचटा हाथ की,
बेड़ियाँ पैर की,
हिमांगिनी,
किरीटिनी,

चन्द्र-सूर्य वन्दिनी,
नन्दिनी दिलीप की;
बसन्त, ग्रीष्म, शीत, वृष्टि,
कान्त प्रान्त धारिणी,
अनन्त त्रास तारिणी,
मातृ भू-महान् माँ;
उठ रही शान से,
मान से, महान् सी;
शत्रु गर्व खर्विणी;
उठ रही, उठ रही—
मातृ-भूमि, देश भूमि कह रही—
आज हम स्वतन्त्र हैं;

× × ×

आज देश उठ रहा—
बालसूर्य सा मधुर,
समुद्र मध्य द्वीप सा शनै-शनै,
प्रसुप्त सिंह गर्जता,
बदल-बदल करबटें,
चटचटा हड्डियाँ,
और ले जम्हाइयाँ,
और मुस्करा रहा;
रोम-रोम जग उठा;
व्योम-व्योम जग उठे;
घोष गूँजता इधर;
घोष गूँजता उधर;

गूँजती धरा समग्र;
उर्वरा भू समग्र—
व्यग्र, गर्जना भरी
समग्र तर्जना भरी,
उठ रही एक गूँज—
आज हम स्वतंत्र हैं;

× ×

देश के, विदेश के,
ध्यान आ लगे इधर,
एक-एक शब्द पर,
एक-एक वाक्य पर,
सुन रहे सभी निपट
मूक, मौन, ध्यान से;

स्वप्न से जगे-जगे,
नवीन जागरण पगे,
सुन रहे सभीत से,
प्रेम और प्रीत से,
देश का महान् नाद,
सुन रहे कान साध—
'आज हम स्वतन्त्र हैं,
आज हम स्वतन्त्र हैं;

× × ×

समग्र जातियाँ जगीं,
समग्र शक्तियाँ जगीं,
समग्र एशिया जगा,

इन्डोनेशिया जगा,
सुदूर, ब्रह्म, चीन, स्याम,
औ' इरान, मिश्र, रूम,
करवटें बदल रहे—
सँभल रहे, मचल रहे
कह रहे, कह रहे—
'आज हम स्वतन्त्र हैं;'

× × ×

वे हुए स्वतन्त्र जब,
वे बने स्वतन्त्र जब,
देश-देश पीस कर,
देश-देश बीन कर,
रंग-रंग रक्त से—
पिशाच प्राण सिक्त से,
बन गये सभी नितान्त,
भ्रान्त, दास औ' परान्त,
हीन-दीन अन्न वस्त्र,
सी ज़बान दी;

भग्न प्राण,
भग्न गान,
औ' निन्तात प्राणहीन कर दिया;

किन्तु हम न वह करें,
देश-देश दुख हरें,
एशिया जगे-जगे,

राष्ट्र भी न दुख पगे,
सभी महान् देश हों,
सभी स्वतन्त्र वेश हों,
समूल दुःख नाश हो,
समूल जग विकास हो,
एक कामना करें,
एक चाहना करें,
मनुष्य हों-विशाल हों,
दासता, निरीहता, दरिद्रता, असंस्कृति,
अनय, अनीति औ' अति,
सभी बुरे अगुण भरे,
पिशाच राक्षसी भृति,
सभी बुरी असंस्कृति हमें महान् काल हो;
तभी कहें, सभी कहें कि आज हम स्वतन्त्र हैं;
आज वे स्वतन्त्र हैं, देश सब स्वतन्त्र हैं;

सभी उठें महान् बन,
राष्ट्र स्वाभिमान बन,
सभी समान एक हों,
प्रशस्त सद्विवेक हों;
तभी कहें, सभी कहें,

'आज हम स्वतन्त्र हैं,
आज हम स्वतन्त्र हैं;'

छब्बीस

स्वतन्त्रता मिली, मिला नवीन ज्ञान है;
स्वतंत्रता मिली, मिला नवीन मान है :
स्वतंत्रता मिली, मिला नवीन हर्ष है;
हुए स्वतन्त्र हो गया कि एक वर्ष है ;

बदल गये दिवस, बदल महा निशा गई;
कि सूर्य, चन्द्र, मेघ औ' बदल उषा गई;
निशा गई बदल महान् अन्धकार की,
कि जीत में गयी बदल पुकार हार की ;

न पर बदल सके कि तुम महान् हो सके,
स्वतन्त्र देश के महाभिमान हो सके ?
दगा, फरेब, स्वार्थ से न मुक्त हो सके,
घृणा, कपट, प्रपंच, छल वियुक्त हो सके ;

अभी न घूँस का बजार बन्द हो सका,
अभी न और चोर-द्वार मन्द हो सका ?
अभी न चोरियाँ गईं, चिरौरियाँ गईं,
अभी न स्वार्थ से भरी तिजोरियाँ गईं ?

न सीख ही सके नियम, रहन-सहन नहीं,
न स्वस्थ हो सके विचार कर्म से कहीं;
न प्रांत—पक्षपात से विमुक्त ही हुए,
न भ्रांत ऊँच-नीच से वियुक्त ही हुए ;

प्रचंड-शत्रु से घिरा-घिरा स्वदेश है,
कि धूर्त्त पंचमांग से भरा स्वदेश है ;
इधर विशृंखलित समाज स्वार्थ भर गया,
कि स्वार्थ का पिशाच ध्येय, ज्ञेय चर गया;

स्वतंत्रता तुम्हें मिली, खुशामदें चलीं,
अयोग्य व्यक्ति को महान् न्यामतें मिलीं;
भरे गये विशाल पद स्व-बन्धु-बन्धु से,
स्वजाति से, स्वप्रांत से अयोग्य मन्द से ;

सँभल सके न चल सके न उठ सके अभी;
बुराइयाँ न धो सके, कुचल सके सभी;
न रख सके स्वतंत्रता परख सके स्वयं,
न रख सका उन्हें स्वतंत्र, ब्रह्म भी परम् ;

अरे महान् देश के महान् अंग तुम ,
रहे स्वदेश शक्ति में विवेक संग तुम ;
स्वदेश है विपत्तिग्रस्त प्राण, ओज दो,
स्वशक्ति का स्वदेश में खिला सरोज दो ;

न वह कभी जिया, जिया न देश के लिये,
न वह मरा, मरा न जो स्वदेश के लिये;
नहीं, नहीं मनुष्य जो न देश के लिये,
नहीं, नहीं मनुष्य आत्म-तोष के लिये ?

सभी स्वरूप साँस-साँस प्राण-प्राण भी,
स्वदेश के लिये मिला शरीर, ज्ञान भी;
उठो चलो, उठो चलो, चलो, चलो, चलो,
स्वदेश के लिये मरो, स्वदेश पर गलो;

स्वतंत्रता तुम्हें मिली कि वीरता मिली,
स्वतंत्रता तुम्हें मिली कि धीरता मिली;
स्वतंत्रता तुम्हें मिली विवेक वर, मिला;
स्वतंत्रता तुम्हें मिली कि शक्ति, श्री, कला;

स्वतंत्रता मिली कि न्याय, नीति, बल मिले,
स्वतंत्रता मिली धरा समुद्र चल मिले;
स्वतंत्र भारतीयता नगर-नगर उठे,
स्वतंत्र भारतीय स्वर हहर-हहर उठे;

नगाधिराज के शिखर चमक-चमक उठे,
सुधांशु पीत सिन्धु जल लपक-लपक उठे;
कि प्राण में लहर उठे चमक उठे धरा,
अनन्त शक्ति उर्वरा बने वसुन्धरा;

सत्ताईस

दफ्तर का बाबू

नौ बजते-बजते चल देता—
आधा, पौना पेट भरा यह—
प्राण समेटे,
हाड़ जुड़ाए—
छतरी, झोला, फायल भूषित,
नंगे सिर,
गाँधी टोपी या पगड़ी बाँधे,
तैल सिक्त मुख,
चपटा, पिचका,
मैल, धूलि-धृत
फरगा-टोप सा टोप लगाये,
लपझप लपझप,
धूल उड़ाता,
यह सरकारी क्लर्क नौ बजे;

उड़ी हुई छत्ते से मक्खी झुंड बाँधकर,
उमड़ घुमड़ कर,
फैल गई ज्यों,
सड़कों,
गलियों,

पगडंडी पर,
फुटपाथों पर,
साईकिल से पैदल ही या;

क्रीज-हीन पतलून,
निकर या—
ढीला ढाला चुस्त पजामा,
चपली मंडित,
एक लक्ष्य ले—
एक दिशा ले—
कागज की सज्जित फायल सा,
चला जा रहा—
उड़ा जा रहा—

बहा जा रहा नद-नदियों के एक महा संगम दफ्तर को:
नौ बजते बजते जीवन के;

× × ×

कुछ हँसते, कुछ नव-प्रसून से,
बलशाली भी सुन्दर सुन्दर,
किन्तु अधिकतर पीले,
मरियल,
सूखे, सूखे
फायल के घर,
केवल जिनके स्वप्न सुनहले,
केवल पहली तिथि को हँसते,
जिनके मस्तक मे चिन्ता है,

जिनके मस्तक में फायल है,
जिनके मस्तक में 'साहब' है,
पिचके मुँह, कुछ लम्बे-लम्बे,
कुछ पतले,
कुछ हलके निर्बल,
कुछ मोटे, बेडौल, विकृत-तन,
दुर्निवार सरकारी नौकर;

चिन्ता मुद्रित,
जडित प्रगति-पथ,
दम्भ-भाग्य के,
सन्ध्या के सहमे प्रकाश से;

मुक्त हास से हँस न सके जो,
मुक्त हाथ से दे न सके जो,
मुक्तानन से रो न सके जो,
भाव अभाव,
मरण जीवन के—
मध्य—
सींकपत्नी-व्रत पालक,

(प्रति नव मास सृजन-वरदायिनि,
चार गोल में,
दो कन्धों पर,
एक उदर में,
करती रहती वहन भार जो,
निज प्रियतम का,
बहु संतति ले,)

जीवन से छल करता चलता,
नौ बजते-बजते चल देता,
दफ्तर का यह बाबू केवल;

अरबों जमा खर्च करता है,
दस से पाँच बजे तक बैठा,
टिप् टिप् करता,
कलम घिसाता,
'सैट अप' करता,
सरकारी प्रासाद—ईंट यह,
'साहब' के हँसने पर हँसता,
सहमा, सहमा डरता, डरता,
फायल पर फायल सरकाता;

खाने को जिसके हैं केवल,
चेतावनि, झिड़की औ' धमकी,
पीने को अपमान—
महा-सम्मान,
लंच-पानी से करता,
या कि चाय या छोले, आलू,
कुलचे, बिस्कुट—
बासी खाकर,
भर लेता है उदर दरी को,
और बुझाता उदर अग्नि हैं
'रथ' की बनी मिठाई खाकर,
वह भी प्रतिदिन नहीं,

और फिर,
एक उसी रट में घिस पिस कर,
बार-बार कहता रहता है—

'आज मुझे जल्दी जाना है,
बच्चों के कपड़े लाने हैं,
बीबी भी बीमार पड़ी है,
बड़ी मुसीबत घड़ी घड़ी है;

'क्यू' भी एक मुसीबत है यह,
बड़ा तंग हूँ,
कोयला है तो अन्न नहीं है,
चावल, गेहूँ, शकर नहीं है,
वेतन पंद्रह दिन चलता है;
धोती हर महिने फट जाती;

बच्चे हैं कि मुसीबत—
कपड़े प्रति दिन नये फाड़ देते हैं;
देना भाई एक नोट दस का तो दे दो,
लौटा दूँगा इस पहली को;

'किन्तु अभी तो पहला ही बाकी है तुम पर'—
'वह भी दूँगा,
सोच रहा हूँ नहीं नहीं, निश्चय है यह तो,
भेज रहा हूँ मैके उसको,
शायद कुछ बच जाय,
हाथ आजाय, और टल जाय मुसीबत हस्पताल की;

बहुत तंग हूँ सचमुच भाई, बड़ा तंग हूँ;
लाओ दे दो, लौटा दूँगा,

ज़रा जा रहा हूँ मै बाहर—
साहब पूछे तो कह देना—
अभी गया है पानी पीने—
एक मित्र आ गया उसी से बात कर रहा होगा बाहर;

× × ×

लाओ दे दो लौटा दूँगा;
पाँच अभी बजने वाले हैं,
यह फायल कल होगी पूरी,
समय नहीं है—
पाँच अभी बजने वाले हैं,
टालमटोल किया करता है;

फिर हजूम चल देता घर को,
उसी ध्यान में,
नौ बजते-बजते जो आया;

यह बोलेगा तो अंग्रेजी,
घर में—
मित्रों से—
पत्नी से—
और क्रुद्ध होकर बच्चों से—
लड़ता है तो अंग्रेजी में—
शुद्ध ज्ञान से बहुत दूर है,

ज्ञान अधूरा, वेश अधूरा,
क्रिया अधूरी, इसका अपना वेश नहीं है,
जीने का संदेश नहीं है,
यह खंडहर अंग्रेज राज का,
केवल सरकारी पुर्जा है,
अपना कुछ भी नहीं—
भूख है, बच्चे हैं, पत्नी है केवल ?
है यह वर्ग घिसटता चलता,
लंगड़ाता ठोकर खाता है;

निर्बल कंधों पर ढो-ढो कर,
नित कागज के नये ताजिये—
जिस पर यह सरकार खड़ी है,
न्याय पताका लहरित, शोभित,

और उसी के कंधे पर तो—
दो सहस्त्र का, ढाई का भी,
और तीन का—
श्मश्रु विमुंडित,
टाई, कालर, कोट, बूट, पतलून,
चुरुट युत,
गर्व युक्त,
अधिकार मित्र,
'साहब' बैठा है;

जो मिल सकता नहीं किसी से,

साधारण मानव से जिसको—
हँसना, करना बात मना है,
पैदल चलना जिसे मना है,
केवल उसका निज समाज है—
अमलतास सा लम्बा, सुन्दर;

× × ×

आँख पसारे पिसा घिसा यह—
देख रहा है,
देख रहा है वही हवा है,
देख रहा है वही चाल है,
बिछा हुआ मछलीमारों का—
वही पुराना प्रबल जाल है;

अट्ठाईस

आग की लपटों में

उस दिन साँझ को चार तारीख थी,
घुटा सा वातावरण,
आवरण शोक का, भय का भरा था घोर,
चहुँ ओर कंपन निरीह जड़ता थी व्याप्त,
बिखरे हुए टुकड़ों से उड़ रहे निराधार—
झोंके से समाचार;

काँपते थे लोग मानों माँगते हों प्राण भीख—
माँगी हुई हिम्मत से बने हुए निर्भीक;

शोर बढ़ रहा था घोर,
गूँजता महाविनाश,
मानो महामृत्यु ने अपने ही कैम्प से—
मृत्यु के भिभिन्न रूप क्रूर और बर्बर—
नर रूप जड़तर अपने ही नाश को—
भेजें हो प्रबलतर;
नष्ट-भ्रष्ट कर देते, अस्त-व्यस्त कर देते,
सृष्टि का समग्रबल,
ज्ञान, शुभकामना का खोज-खोज—
जड़ से;

'अल्लाहो अकबर' में,
'जयहिन्द हर हर', में,
प्राणघाती स्वर उठ रहे थे—
विपुलतर;

जीवन के देनेवाले,
रस भर देनेवाले,

अल्लाह, हर हर,
आज बन गये मानों—
मानव के शत्रुवर !

'मार डाला, लूट लिया,
दौड़ियो रे, वह मारा,'
इसके ही साथ-साथ—
घोंपे जा रहे थे छुरे,
गिर रहीं ईटें बरसात-सी,
तड़ातड़, फोड़ती कपार,
और आर पार गोलियों की—
हो रही थी बौछार;

खून से नहाये लोग,
भागे आ रहे थे और—
भागे जा रहे थे सब;

'धाँय धाँय सन सन'
गोलियों की मार में—
केवल थी पदचाप—

स्वर मूक,
नर मूक,
सुनसान पुर सब बना था बियावान;

झाँकती थीं नारियाँ,
बालक औ' बालिकायें,
कबूतर के दरबों जैसे,
काँपतीं छिपाये जान;
आगे के क्षण लिये आ रहे थे भय, त्रास,
औ' विनाश, वज्रपात,
घात-प्रतिघात, वज्र-शत्रुता के साथ-साथ ;

× × ×

गा रहा था रेडियो नये नये स्वर भर—
'मोहन ना बिसारियो'
दर्शन दीजो मोहि,
मै तो दासी आपकी,
बिलावल का यह राग—
गाया जा रहा था खूब—

किन्तु जड़ श्रोताओ में एक थी—
महान् ऊब !

इतने में सुन पड़ा—
—'आगये आगये, भाले लिये, छुरे लिये
लाठी, बन्दूक लिये, प्राणों की भूख लिये
पागलों के दल बल' ;

आगये वे लोग सब सहमे से लोग सब,
'दोड़ो, मारो, काटो, पीस डालो,
मत जाने देना एक भी अधमको;'

चिल्लाती थीं नारियां और बच्चे रोने लगे सब—
भय मिली हिम्मत ले भागे त्रस्त लोग बाग;
पागल हुआ था जग क्रोध, भय पगपग;
बर्बरता, क्रूरता, क्रोध, प्रतिशोध का,
केवल विरोध का राज हो गया हो ज्यों;

× × × ×

आई रात—
सुनसान,
भय उन्मादिनी,
पूर्णिमा की,
चाँदनी से न्हाई हुई शुभ्र शुभ्र—
मानो ओढ़े कफ़न सफेद कोई महाकाल—
हो गया हो जड़ मूक;

दूर और पास कभी बोलती थी बन्दूक—
ठाँय, ठाँय धाँय धाँय;
कभी समवेत घोष गूँज जाता नभ में,
जय-हिन्द, जय-हिन्द अल्ला हो अकबर का;

कुछ लोग गलियों में थे सतर्क लट्ठ लिये—
कुछ लोग कोठे और छत पर देखते थे,
लगाकर नारे दहलाने वाले दिल को;

इसी बीच जल उठीं होलियाँ दुकानों की—
मकानो की प्रचण्डतर धूम दण्ड—
छा रहा था अग्नि का प्रकाश भर;

'आग लगी आग लगी' यह देखो, वह देखो,
इधर उधर नर छा गये थे छत पर,
जैसे मक्खियाँ हों बैठी भन भन करती सी
ईख-फोक ढेर पर,

घोष उठता रहा, जोश बढ़ता रहा,
चढ़ चली बन्हि सब नभ द्युतिमान कर;
दूर से सुनाई दिया घोर समवेत शोर
रोने, चिल्लाने, डकराने का चारों ओर ;
गर्ज उठी वन्दूक नभ मे इसी के साथ—
'हाय हाय, चीत्कार हुआ नर संहार,

× × × ×

अल्लाह के नाम पर यह नर-संहार,
धर्म की रक्षा के लिये होता है अधर्म यह,
जाति (लीग) की रक्षा के लिये जाति का विनाश यह,
देश की रक्षा के लिये देश पीसा जा रहा !

निर्बल नारी, सुकुमार बालिकाओ पर—
व्यभिचार, बलात्कार,
नंगाकर भोंक देना गुप्तअंग में भी अस्त्र
स्तन, नाक, कान काट,

फोड़ देना आँख भी;
तिलतिल, डकराते,
चिल्लाते भय खाते—
त्रस्त व्यस्त मानवों का—
जीवित प्रदाह दाह—
हो रहा है हन्त यह मजहब नाम पर !

कैसा यह मजहब,
कैसा यह अल्लाह,
कैसी यह आज्ञा,
किसने सिखाया सब !
क्या यही है उपदेश पाक-कुरआन का,
शान्तिदूत, ज्ञान पूत—
निर्मद मुहम्मद का ?

अल्लाह के कंधे पर तलवार रख कर,
मजहब की ओट में शिकार करने चला !

यह नहीं 'कुरआन' मुहम्मद की आवाज
स्वार्थ बोलता है धूर्त, तेरे ही हृदय का !
यज्ञ के नाम पर नर मांस लोलुपाग्र,
अग्रजसमाज आज तू भी हुआ हेय है !

सुनता हूँ—मजहब मनुष्य का विकास है,
शान्ति का निवास है, स्वर्ग का प्रकाश है,
किन्तु तेरा मजहब, जिस पर नाज तुझे,
क्या नहीं बनाता तुझे पशु से अधम है ?

कहता—'मनुष्य हूँ विश्व में सभी से उच्च,
अल्लाह का पुत्र और ज्ञान का महान पुंज',
इससे तो अच्छा था तू—
पशु बना रहता रे,
पशु भी क्या लड़ते हैं ऐसे आत्म-घात कर ?

× × × ×

रच रही आज लीग खून की सरित पर—
एक मजबूत पुल पाकिस्तान का महान्,
किन्तु यह धूर्तता, पागलपन, बर्बरता, क्रूरता—
से बना हुआ पाकिस्तान का महल—
रह भी सकेगा सोच ?

सोचा है अरे क्या तूने—
कहाँ है चंगेज आज,
कौन-सा है देश आज—
उसका—हलाकू का ?
कौन-सा है हूण देश ?
मुगल हैं कहाँ शेष ?
जिन्होंने थी डाली नींव,
खून से स्वराज्य की ?
क्या न हिल रही भूमि—
देश देश शक्तिशील—
अंगरेज जाति की ?

छल से, कपट से निरंकुश हो पाया जिसे—
और हथियाया जिसे,

आज वह मुट्ठी से खिसका है जा रहा ?
लालची का यह प्रयत्न—
रबड़ के समान है—
जो कि शक्ति दर्प मे, साहस मे भरकर
दूसरे के देशो को
अपनाता—और फिर समय के साथ साथ—
लौटकर आता है;

अपने विश्वास को,
दूसरो पै—लादना, यही है अधर्म, स्वार्थ
इसका ही नाम है;

देनेवाली जीवन और प्राण भर देनेवाली
माँ भी तो न रख सकी
सदा शिशुगर्भ मे ?

उन्तीस

अमृत-मंथन

ऊपर घिरा हुआ नीलम का—
स्फटिक-विलासी महाकाश था,

नीचे तुंगतरंगित चंचल—
उच्छल-जल-निधि-नील-सार सा,
महावर्त था,
सीमा हीन—
अतल-संकुल-जल,
पल पल संबल ले राकाशशि—
सित किरणों का उछल रहा था,
फेनाविल जल,
भूरा भूरा,
पूरतोय निधि,
और होरहा मंथन निशि दिन;

एक ओर थे देव,
असुर गण और दूसरी ओर,
रहे कर मंथन संतत,
चल-दल के पत्तों सा हिलता,

फेनों का सागर कटाह सा,
मँदराचल मंथन का दण्ड,
खड़ा हुआ उन्नत शिर, पिच्छल—
वासुकि नाग-रूप रस्सी से,
नग-शिखरी अति—अकल, अखंड;

और होरहा था संघर्षण,
आकर्षण, उत्कर्ष, विकर्षण,
आलोडन-उत्थित-फेनाचल,
बिन्दु बिन्दु से श्वेत समीरण,
जलकण, नभ नक्षत्र-किरण-गण,
श्वेत-शरीरी देवासुर थे;

श्वेत वात आवरण ,श्वेत ही—
लहरों का था;
कुछ एकत्रित,
कहीं कहीं पर,
श्वेत आकरण;
प्रति मंथन के प्रलयविदारक—
घर्घर,
कर्कश,
प्राण प्रतारक,
संहारक से,
शिव ताण्डव के—
नृत्य-समुत्थित;

× × ×

हृदय विदारक,
महा नाश के महा-शब्द से,
'तड़ तड़ तड़ तड़ कड़ कड़ कड़ कड़',
सृष्टि-घात से—
नक्षत्रों के नभ प्रपात से—
रवि के, शशि के समाघात से,
कल कल कल कल, छल छल छल छल,
गूँज रहे थे षडज निनादी,
सप्त तार स्वर—
निकल निकल कर,
जल सागर से;

था उद्घोष व्यग्र नभ-पूरित,
संतापित, सौदामिनी घट्टित,
विषपायी के अट्टहास सा;

गूँज रहा था—
महा-नाश सा—
दिशा-दिशा में,
दसों कोण में,
ऊपर नीचे,
भू पर, नभ में,
कल कल कल कल,
महा-वात में,
एक दूसरे महाकाश सा—
अभिनव सृष्टिभार सा भीषण;

वह मँदराचल,
एक खींच से भर देता जो,
सारे सागर को फेनों से,
श्वेत-श्वेत सब श्वेत हो रहा,
नीलांचल, नीलाम्बर, अम्बर;

× × ×

निकल रहीं थीं रह रह,
रुक रुक,
रत्न-राशि सब—
अश्वकर्ण,
सुरधेनु,
कौस्तुभी-मणि,
अमृत औ'—धन्वंतरि, ऐरावत,
विषघट,
महा-वारुणी, पारिजात आदिक अथ मणियाँ;
क्रम विक्रम से,

यह था अति संघर्ष प्रकृति का;
सत, रज ,तम, का,
प्राण प्राण का,
देव-कर्म का,
धर्माधर्म,
अकर्म-कर्म का,
सृष्टि-सृष्टि का,
भिन्न-दृष्टि का,

आशा पूरक,
महाघ्रात-आसव-रस-सागर ;

उत्सुकता से बाँटी सबने,
वस्तु परस्पर,
सस्वर-साकुल,
आकुल-व्याकुल;

फिर भी मंथन तो होता था,
उफन रहा जीवन सोता था;
अन्तिम वस्तु दिव्य तर—
जो भी निकलेगी,
उसके हित,
संहित,

सभी व्यग्र थे,
सभी उग्र थे,
साँस साध कर,
आस बाँध कर,
दैव मनाते,
देख रहे थे क्या निकलेगा ?
क्या निकलेगा ?
मन्थन बन्द हुआ—
मानों फिर क्रिया-कलापी,
प्राणों का कम्पन जानो फिर,
उठ उठ कर निस्पन्द हुआ फिर;

देखा सब ने,
धीरे धीरे,
पल पल, क्षण क्षण,
एक उठा आलोक—
क्षितिज से,
नव ऊषा का—
गगन विलासी,
प्रकाश राशि,
स्मय का, जीवन के विस्मय का,
रूप सुधा का,
तरल गरल का,
मानो महानदी के मदका,
अभिनव अभिनव
सुन्दर सुन्दर;
यौवन का उन्मादी मंदिर;

दृष्टि भ्रमित थी,
चकित चकित सी,
चुँधियाई मानो थी सबकी;

धीरे धीरे देखा सबने—
निकल रही थी—
जल सागर से—कमल पत्र पर
दिव्य मूर्ति—
सन्मूर्ति-स्फूर्ति सी,
प्रकृति प्राण की,

जड़ जंगम की,
क्ष्मा की शोभा,
'लक्ष्मी'
उस मंथन से—
ऊपर !

× × ×

जिसने पागल कर डाला—
एक एक को,
नर-विवेक को,
यौवन को,
प्राणों को,
मन को;
व्यग्र कर दिया—
इस मानव को,
मानव के भीतर—
सोते से नरदानव को;

क्रुद्ध भृकुटि ले—
युद्ध भूमि में—
आने को बाधित कर डाला—
हालाहाल पायी ज्वाला के—
झारझार अँगार पिलाकर;

× ×

जिसने शत शत अभिमत—
रति का पावन स्वर्ग बना डाला था,

मानव के प्रसाद मंदिर में—
शतशत रवि, शशि,
बना बना कर;

तीस

नर मे ही सुरत्व पलता है—
जब दुर्धर्ष वासना विष का भूधर हिम प्रतिपल गलता है;

जब अपने ही विश्वासो के पर्वत से निरपेक्ष भाव से;
जीवन का अपनापन खो वह बरसाता समदृष्टि चाव से;
दया बिन्दु बरसा पापी को उठा अंक मे ले चलता है;

नर में ही सुरतरु पलता है:—

उसका 'अहं' ब्रह्म सा व्यापक चीटी से मानव का साधक;
जीवन दया-सिन्धु कर देता कण-कण का बनकर आराधक;
उसकी साँस-साँस मे जीवन, कर्म कर्म मे निश्छलता है—

नर मे दैवी—धन पलता है:—

एक ओर तूफान, वबंडर क्रूरदानवी-शक्ति समूची,
एक ओर वह मौन अकेला बढ़ता ले जन—पालन सूची,
उसकी निखिल बन्धुता पाकर बनती स्थिरता चंचलता है;

नर मे नर गौरव पलता है—

दो सहस्त्र वर्षों के पीछे कल तक जो था साधारण नर,
वही हमारे लिये बन गया आज वन्द्य बापू पावनतर,
तीसकोटि आँखो मे उसका चित्र भर रहा निर्मलता है,

बापू में सुरत्व पलता है—

युगयुग तक संदेश हमें दे हमको जीवन-वाणी बापू,
युगयुग तक हमको वाणी दे तू जन-जन कल्याणी बापू,
अब भी प्राणद अमर हँसी वह हरती मेरी आकुलता है,

नर में ही सुरत्व पलता है।

इकत्तीस

मांसल प्राण मृत्यु के साथी मुझे वज्र के प्राण चाहिये,
युद्ध चाहिये संघर्षों से जीने का अभिमान चाहिये !

आने दो जीवन के पथ में हड़कम्पी-अड़चन आने दो;
शूलावृत कण कण से मेरा रुधिर-क्लिन्न-तन भर जाने दो;
बढ़ने दो सागर की लहरें बढ़ने दो, तट पी जाने दो;
और अमा के अन्धकार में मेरा स्वर्ग बिखर जाने दो,
मैं संहारिणि लहरों से लड़ दुख का सागर पार करूँगा,
मैं अदम्य ऊर्जस्व प्राण से क्षमता का विस्तार करूँगा,

स्वयं स्वर्ग का निर्माता मैं मुझको अपना ज्ञान चाहिये !
मांसल प्राण मृत्यु के साथी मुझे वज्र के प्राण चाहिये !

चलनेवाले नहीं देखते तूफानो का अन्त कहाँ है ?
चलनेवाले नहीं देखते मेरे ध्रुव का पन्थ कहाँ है ?
फटजाते हैं मेघ गगन के जब रवि का घर्घर रथ चलता;
'इति' में चलने वालों की गति में 'अथ' का अस्तित्व मचलता;
पैरों के बोझिल तलुओं से प्रतिपद चिन्ह पंथ बन जाता;
चरण-चरण के निर्माणों में अविनाशी बसन्त बन आता;

केवल जन कल्याण कामना का मुझको वरदान चाहिये,
मांसल प्राण मृत्यु के साथी मुझे वज्र के प्राण चाहिये ।

विश्व विजयिनी महाशक्ति के मुझमें दिव्यांगार छिपे हैं;
मुझमें मानवता के अभिनव वरदायी शृंगार छिपे हैं;
मेरे चरणों की गति में ही मेरा देव—विधान छिपा है;
मेरे इंगित में जल थल की 'इति अथ' का निर्माण छिपा है;
मेरी इच्छाओं का तरु उग धर्म बन गया, पाप बन गया;
मेरा युग पौरुष ही मेरा स्वर्ग बना, अभिशाप बन गया;
मूर्छित प्राण जगत् में मुझ को नव संजीवन दान चाहिये !
मांसल प्राण मृत्यु के साथी मुझे वज्र के प्राण चाहिये !!

कृपया शुद्ध करके पढ़ें

शुद्ध	अशुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
गये मेघ घिर	गये भेद घिर	६	७
चरणांकन	चरणाकन	१२	१५
धर देते हो वहीं मेज पर	धर देते हो वहीं भेज पर	१६	८
भास्वर स्वर में	भास्वर स्वर भें	१६	७
महास्वप्न में कल्पना जागती	महास्वप्र में कल्पना जगती	२२	१
प्रकंपित	प्रपंपित	२२	१७
साकार कि	साकार	३८	३
उपयोग किया मैंने	उपयोग मैंने	३१	१
हालाहल	हालाहाल	७७	१६
मानव के प्रसाद निकेतन	मानव के प्रसाद मंदिर में	७८	१६
सुरत्त्व	सुरत्व	८०	१–५